आगे

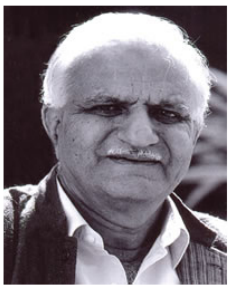

महेंद्र भल्ला

हिन्दी ADDA

आगे

आगे कमीने दिखने वाले आदमियों ने ऊपर खिड़की में मेरी ओर देखा, फिर एक दूसरे को देखकर कमीने ढंग से मुस्कराए और आगे चलते गए। मैं उनकी मुसकराहट सह गया। असल में, बदले-जैसा कुछ करने की बात मेरी दिमाग में तब आई जब वे लोग गली में काफी आगे निकल चुके थे। उन्हें, इससे पहले मैंने कभी नहीं देखा था और तब एकदम सिद्ध-रूप से यह भी लगा कि उन्हें फिर कभी देखूँगा भी नहीं। यह साफ था

कि वे कुछ करने जा रहे थे। उनकी एक-जैसी सूरतों और उन पर कमीनेपन के एक जैसे अभावों को देखकर मुझे हैरानी हुई थी; मन में नकारात्मक प्रशंसा भी जागी थी कि वे कुछ करने जा रहे हैं (मेरे पास करने को कुछ नहीं था)। हो सकता है वे चोरी, ठगी या महज किसी की खिंचाई ही करने जा रहे थे।

मैं जानता था कि उनकी उस हरकत का जवाब मन में व्यंग्य से मुस्कराने का जरा-सा भाव पैदा करना ही हो सकता था - वह भी यदि कोई जवाब देना जरूरी समझा जाए तो, जैसा कि नहीं समझा जाना चाहिए था। लेकिन तब लगा कि मुझे उन्हें कोई गाली वगैरह देनी चाहिए थी। मैं यह भी जानता था कि वे लोग अगर ज्यादा दूर नहीं भी निकल गए होते, तो भी मैं ऐसा कुछ न करता।

हो सकता है मुझी में कुछ हास्यास्पद रहा हो (मैं अभी तक वैसे ही खड़ा फिजूलियत से बाहर देखे जा रहा था), जिस पर वे लोग हँसे थे। अपने को उनकी निगाह से देखने की कोशिश की तो याद आया कि बंबई में एक दिन कुछ ऐसे ही बहुत देर से खड़े एक आदमी को देखकर मैंने सुरेंद्र से कहा था, 'देखो, वह आदमी जीवन की असलियत भोग रहा है।' हम ठठाकर हँस दिए थे। अब अपना वह फिकरा और हँसना, दोनों ही खराब लगे।

साढ़े दस बज रहे थे। हवा में अदृश्य आँचें भरने लगी थीं। आकाश की एकरसता अटल हो गई थी। बाहर देखते रहना असंभव हो गया था।

भीतर से उषा के कपड़े धोने की आवाज आ रही थी - थप-थप थप-थप... पट थप-थप... पट। कपड़े धोने की कुछ वैसी ही आवाजें और दो-तीन घरों से भी आ रही थीं। मैं नहीं जानता क्यों, मगर कपड़े धोने की आवाजे सुनकर, खासकर दिन के इस वक्त, मेरे अंदर निरर्थकता का भाव भर जाता था और मुझे बेचैनी होने लगती थी।

कुछ पलों के हेर-फेर से ये आवाजें बराबर आती रहीं। बीच में दो बार रद्दी-अखबार वाले की और दो-एक बार जमादारिन की आवाजें भी सुनाई दीं। सुबह कामों पर गए आदमी अपने पीछे घरों में एक अजीब मनहूसियत छोड़ गए थे।

रोशनदान में गोरैय्या बोली। फिर बोली। कमरे में उसका स्वर ऐसे गूँजा जैसे कमरा बिलकुल खाली हो - बिलकुल; जैसे मैं भी वहाँ न होऊँ! कुछ पल मैंने अपने को महसूस नहीं किया - जैसे चिड़िया के स्वर ने भी नहीं किया था।

जमादारिन की आवाज फिर आई। उसके बाद और एक बार। तब उषा के कपड़े पीटने की - तब दूसरे घर से, तीसरे घर से -

मैंने सोचा मैं अपने को मार सकता हूँ।

सिगरेट जलाने के लिए जो तीली निकाली उसी को रोशनदान की ओर फेंककर गोरैय्या को उड़ाया और उषा को जोर से पुकारा।

'उषा!'

वह आई, ब्लाउज और गीला-सा पेटीकोट पहने, एक हाथ से साबुन वाले पानी की बूँदें चुआती हुई।

'क्या है?'

'आओ न भई! क्या कपड़े-अपड़े धो रही हो।'

'इस वक्त! - ऊँह!' वह लौट पड़ी।

'उषा! उषा! बात तो सुन।'

वह मुड़ी।

'क्या हो गया है तुमको! काम कौन करेगा और फिर बाद में दिन-भर टाँगे दुखती रहेंगी।'

वह चली गई और फिर कपड़े धोने लगी। मैं फिर यह महसूस करने लगा कि मुझे कुछ करना चाहिए।

कनॉट प्लेस जाने के लिए मैं नीचे उतर आया - बावजूद इस निश्चय के कि कम से कम आज तो वहाँ नहीं जाऊँगा।

मैंने इधर-उधर नजर दौड़ाई। ज्यादा लोग नहीं थे तो भी कॉफी-हाउस भर हुआ लगता था। शायद इसलिए कि लोग बहुत व्यस्त दिखाई दे रहे थे - बातों में, कॉफी पीने में, पान खाने में, आने-जाने में। उन सब में एक खास बात थी, एक 'प्वाइंट' था। मामूली से मामूली आदमी में भी।

एकाएक ही उसके सामने आकर मैं जरा हतप्रभ जरूर हो गया था लेकिन तुरंत चेहरे पर निश्चिंतता का भाव लाने की कोशिश करता हुआ पास ही बैठ गया। कॉफी मँगाई और भीड़ में डूबने की चेष्टा करने लगा।

कुछ ही क्षणों के बाद मैं, 'उन' के बारे में सजग हो गया। ये वे लोग थे जो यहाँ हर वक्त या अक्सर मौजूद रहते थे। यह शायद जानते भी न हों, लेकिन मुझे यही लगता कि वे एक दूसरे से जुड़े हैं - मधुक्खियों के छत्ते की तरह। मैं उन्हें उनके इसी एक पल में महसूस करता। पहले उनसे वितृष्णा होती थी जो कि अब भी होती थी लेकिन अब साथ-साथ दया भी आने लगी थी (गरीब-गुरबा पर आने वाली पराई-सी दया)।

पिछले कुद दिनों में हमदर्दी होनी शुरू हो गई थी, जिसके संग मन में डर भी पैदा हो गया था कि कहीं उनकी संगत न करने लगूँ, उन जैसा न हो जाऊँ!

मैं व्यस्त लोगों की ओर ठप हो गया था - वे पृष्ठभूमि की भनभनाहट मात्र रह गए थे - और इन दूसरों को तीक्ष्णता से महसूस करने लगा था।

इसी पल उनका एक आदमी मेरे पास आकर बैठ गया। मैला कुर्ता-पाजामा, बंदर-जैसे एक गाल पान से फूला हुआ, उँगलियों में चार-मीनार की सिगरेट। उनका प्रतिनिधि बनकर वह शायद मुझे 'भर्ती' करने के लिए आया था। वह पान खाता रहा, सिगरेट पीता रहा और सामने पेड़ों में देखता रहा। मेरी ओर वह सजग जरूर था लेकिन मुझसे आँख मिलाने की या बात करने की कोई कोशिश उसने नहीं की। लगा, वह करना चाहता भी नहीं था। इस चीज को मुझी पर छोड़ रहा था। यह सूक्ष्मता बुरी नहीं लगी। लेकिन इसी सूक्ष्मता को फंदा समझकर मैं अपने चेहरे पर रोबीली गंभीरता ले आया ताकि चाहे भी तो वह बात करने की हिम्मत न कर सके।

लेकिन मेरा यह चेहरा गैर-जरूरी था। यह साफ था कि वह बात तो नहीं ही करेगा। वह तो बिना किसी भाव के पेड़ों में देखे चला जा रहा था - जैसे कहीं, कभी, कोई बात ही न हो। तब वह उठकर चला गया। वापिस 'उन' के पास नहीं। बाहर कनॉट प्लेस के बरामदों में। मुझे यह भी सूक्ष्म लगा। यह खयाल भी आया कि यह सब मैं अपने मन में गढ़ रहा हूँ कि वह आया था, बैठा और चला गया जैसे यहाँ कभी भी, कोई भी कर सकता था।

उसके चले जाने के बाद मुझे ध्यान आया - और यह सबसे बड़ी बात थी - कि उसके बैठने के आखिरी क्षणों में मैं उससे ऊँच-नीच का संबंध नहीं बैठा पाया था, जैसा कि हैसियत और अक्ल आदि के आधार पर हम एक दूसरे से जोड़ लेते हैं। वह बस एक

आदमी था, जैसा कि मैं भी था। और यह चीज मुझे परेशान करने लगी। ऐसा अनुभव मुझे पहले कभी नहीं हुआ था।

मैं उठा और पान लेकर बाहर आ गया। कनॉट प्लेस को उखड़ी-सी नजर से देखा और घर लोट आया।

अब एक ही इलाज था जिसके बाद मैं शाम तक सो सकता था, जिसे मैं पहले भी आजमा चुका था। उसी के लिए मैं उषा के काम खतम कर लेने का इंतजार करने लगा।

लेकिन उषा के आने के बाद उन 'कुछ मिनटों' के गुजरते ही मुझे धक्का लगा : सेक्स इतना स्वादहीन, बेकार, जघन्य कभी नहीं रहा था। बल्कि मैंने हमेशा सोचा था कि कम से कम यह तो है ही।

उषा ने मेरी ओर देखा, कुछ पल देखती रही, फिर दीवार की तरफ मुँह करके शायद रोने लगी। मैंने महसूस किया मैं इससे बदतर नहीं हो सकता।

बड़ी देर तक मैं खाली दीवार को देखता रहा। रोशनदान से आते प्रकाश में उसकी मरियल-सी सफेदी मैले ढंग से चमक रही थी।

'उषा!'

उषा ने कोई उत्तर नहीं दिया।

मैंने फिर दीवार को देखा। खाली, मैली, ऊपर चढ़ती आ रही दीवार को और अपने को ढीला छोड़ दिया, एकदम - मुझे लगा, शुरू जीवन से अब तक मैंने अपने को कस कर पकड़ा हुआ था।

'मर जाएँगे तो मर जाएँगे।' मैंने मन में कहा और मौत के इस भाव को लिए हुए सो गया।

जब मैं उठा तो उषा ने बताया कि नीचे मकान मालकिन के यहाँ सुरेंद्र का फोन आया था।

'कह रहा था हम आएँगे।'

'हम से मतलब वह और लिंडा?'

'यह तुम जानो। मैंने तो जैसा संदेश मिला वैसा दे दिया।'

'आज फिर? अभी परसों तो आए थे और उसके दो दिन पहले भी।'

'हमारी तरफ से रोज आएँ!'

उषा को उनका आना अच्छा नहीं लगा था। आज मुझे भी अखरा हालाँकि मुझे किसी से बात करने की काफी जरूरत महसूस हो रही थी। लगा, वे दोनों जब एक दूसरे से बोर हो जाते हैं तो उन्हें मेरे पास आने की हविस होने लगती है।

गनीमत यह हुई कि इस बार वे ह्विस्की अपने साथ ले आए। गो बरफ, सोडे और नमकीन मुझे ही लाने पड़े।

जब सारा सामान मेज पर आ गया तो लंबी-बैठक की आशा से मुझे उतना बुरा नहीं लगा। मैं ज्यादा से ज्यादा देर तक 'उन' से दूर रहना चाहता था। और अब वे लोग आ ही तो गए थे।

सबने गिलास उठाए।

'हिंदुस्तान को, जो लिंडा को अभी तक पसंद है।'

'हिंदुस्तान को।'

मैंने बड़ा घूँट पिया और लिंडा की ओर देखा।

'क्यों, अभी तक हिंदुस्तान अच्छा लग रहा है न?'

'हाँ, अभी तक अच्छा लग रहा है।'

'लेकिन यहाँ की कोई चीज तो बुरी लगती होगी। कोई छोटी-बड़ी चीज, यहाँ के लोगों में, यहाँ के मौसम में, इमारतों में - यहाँ की गरीबी, गंदगी, कुछ भी कहीं भी - कुछ तो बुरा लगता ही होगा।' मैंने आग्रह किया।

'मैं बुरा लगता हूँ', सुरेंद्र ने कहा और हँसने की कोशिश करने लगा।

उसके आते ही मैं ताड़ गया था कि वह उद्विग्न है लेकिन मैंने नजरों तक से भी समझ या हमदर्दी नहीं जताई थी।

'अपने को इतना महत्व मत दो', मैंने कहा।

सब हँस पड़े। इसके बावजूद लिंडा ने आँखों से सुरेंद्र को घुड़का। सुरेंद्र ने केवल गाल उचका दिए।

'हाँ तो आज बता ही दो। तकल्लुफ मत करो।'

'बुरा? यहाँ लोग घूरते बहुत हैं।'

'इंग्लैंड में नहीं घूरते क्या?'

'नहीं, वहाँ एकाध बार, अक्सर बस एक ही बार सहज रूप से देखेंगे और आगे निकल जाएँगे। अगर गाड़ी या टयूब में होंगे तो अखबार वगैरह कुछ पढ़ने लगेंगे।'

'वह बुरा नहीं लगता क्या? मैं लड़की होता तो मुझे यह बहुत ही बुरा लगता।' मैं मुस्कराया।

वह पहले तो जरा-सा हँसी, बाद में एकाएक ही पीली पड़ गई और नीचे देखने लगी।

वह सुंदर नहीं थी। लेकिन अपने को इतना असुंदर समझती है, इस बात पर हैरानी हुई। इस पर भी कि सुरेंद्र और उसके आपसी संबंध ने उसे जरा-सा भी आत्मविश्वास नहीं दिया लगता था। सुरेंद्र को देखा। उसने फिर गाल उचका दिए। इस पर उषा भी मुस्कराई।

'यह बात सही है कि यहाँ घूरते बहुत हैं', उषा ने कहा।

'अरे यहाँ कौन क्या-क्या नहीं करता?' सुरेंद्र बोला।

'थोड़ा-बहुत शायद सभी जगह होता है', अपने पर काबू पाने की कोशिश में लिंडा ने कहा, 'लंदन में ऐसी कई जगहें हैं, जहाँ घूरना तो एक तरफ रहा, जहाँ हम दिन-दहाड़े भी जाने की बात नहीं सोच सकतीं। लेकिन यहाँ, मिसाल के लिए, गाड़ी में मेरा सफर अगर चार घंटों का है तो चारों घंटे मेरे चेहरे पर कई-कई आँखें चिपकी रहेंगी। ...शुरू-शुरू में तो डर लगता था। अब थोड़ी आदी हो गई हूँ लेकिन कई बार इच्छा होती है कि आँखें नोच लूँ।'

उसने चमक कर सुरेंद्र को देखा।

'यहाँ के लोगों ने अभी', सुरेंद्र तुनक कर बोला, 'ढोंग नहीं सीखा है, जो कि इंग्लैंड वालों की खासियत है।'

'वह कैसे?' लिंडा ने गुस्से से पूछा।

'इसके लिए भी सबूत चाहिए क्या? तो लो फिर - यों तो तुम लोग सदियों से यही करते आए हो लेकिन तुम एकदम ताजा लो - विलसन रूडीसिया में क्या कर रहा है! अगर वह चाहे तो दस मिनटों में स्मिथ सरकार को खतम कर सकता है, दस मिनटों में! मगर वह चाहता नहीं है, कहा जरूर है कि करूँगा, कि कर रहा हूँ - और यह तब है जब वह लेबर पार्टी का नेता है। अगर वह टोरी का होता तो शायद भागता हुआ जाकर स्मिथ को चूस लेता।'

'विलसन की बात छोड़ो', लिंडा ने कहा। उसे स्वयं विलसन पसंद नहीं था। लेकिन सुरेंद्र को गुस्सा चढ़ा आ रहा था।

'तुम अपना सारा इतिहास ले लो। हिंदुस्तान में तुमने क्या किया और दूर पूरब में और पास पूरब में। कहाँ-कहाँ तुम लोगों ने गुल नहीं खिलाए - कहा कुछ और, किया कुछ और।'

'सुरेंद्र! क्या हो गया है तुम्हें? तुम तो ऐसे कह रहे हो जैसे यह सब लिंडा का अपना दोष हो।'

'लिंडा का इसमें क्या दोष होगा। वह तो बेचारी मामूली लड़की है।' उसने मामूली लड़की ऐसे कहा मानो लिंडा एकदम तुच्छ हो।

'जब से यह रूडीसिया का चक्कर चला है', वह उसी तीव्रता से बोलता गया, 'मुझे विलसन से सख्त नफरत हो गई है। इतना कमीना प्रधानमंत्री दुनिया में दूसरा कोई नहीं है।'

वह गुस्से में काँप रहा था। लिंडा का जबड़ा कसा हुआ था और उसने भँवों से आँखों को दबा रखा था।

'लेकिन तुम्हे पता है', मैंने ऊँचे स्वर में कहा, 'कि तुम एक विदेशी-लड़की का बुरी तरह से अपमान कर रहे हो!'

'मैं विदेशी-शदेशी का अपमान नहीं कर रहा हूँ। मैं तो सिर्फ उससे बात कर रहा था जो कि दोस्त - थी।'

यह कह कर वह उठा और बाहर जाकर जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ उतरने लगा। मैं तुरंत उसके पीछे गया। घर के बाहर ही उसे रोका।

'क्या बात है, सुरेंद्र?'

'अरे बात क्या होगी? साली एकदम वो है। एक इसका बंबई में है, एक बनारस में, एक कहीं और। सब के साथ बनाए रखना चाहती है - जब तक ऐसा नहीं मिल जाता जो एक ही काफी हो।'

'जैसा कि तुम अपने को समझे थे।' मैंने कहा।

वह चौंका, फिर बोला, 'स्वाभाविक रूप से! खैर, मैं चलता हूँ। माफ करना - मैंने नहीं सोचा था कि यह सब ऐसे होगा।'

वह मुड़ा और तेजी से चलने लगा। एकाएक ही वह रुक गया और वापिस मेरे पास आ गया।

'तुम्हारा कुछ हुआ कि नहीं अभी?'

उसे सब पता था। लेकिन लगे हाथ वह मुझे भी चोट पहुँचाना चाहता था।

'मेरा सब हो जाएगा, सुरेंद्र भाई! तुम मेरी चिंता मत करो।' मैंने इतने विश्वास से कहा (जिस पर मुझे भी हैरानी हुई) कि सुरेंद्र हतप्रभ हो गया। कुछ पल चुप रहा।

'तुम कैंपर एंड कंपनी वाले गुप्ता से मिल लेना। वह तुम्हें पूछ रहा था।' वह बोला और एक ओछी-सी मुस्कराहट का आभास देकर चला गया।

जब मैं लौटा तो लिंडा बोली, 'मैं उषा को बता रही थी कि जब कोई वास्तविक संबंध नहीं होता तो किसी को आर-पार जान लेने के बाद उसमें मेरी दिलचस्पी घटनी शुरू हो जाती है। और फिर सुरेंद्र तो -'

उसने कंधे उचकाए।

वह बिलकुल सहज थी। सुरेंद्र द्वारा अपमानित होने का चिह्न उसके चेहरे पर दिखाई नहीं दिया। तत्काल नहीं। यह तब दिया जब वह कुछ ही क्षण बाद उठ कर चलने के लिए तैयार हो गई। तब अकेली और बेचारी समझकर हम उसे खाने पर रुकने के लिए कहने लगे। यह साफ था कि सहानुभूति देने के लिए ही हम उसे रोक रहे थे। लेकिन वह भी सहानुभूति पाने के 'सुख' के लिए उत्सुक लगी तो थोड़ा विस्मय हुआ (मैं यह समझे हुए था कि पश्चिमी लोग ज्यादा आत्मनिर्भर होते हैं)।

शायद यही कारण था कि उसी नर्म लहर में बातें करते-करते जब उसने हिंदुस्तान की दूसरी-तीसरी बार प्रशंसा की (खामखाह, मुझे लगा) और बार-बार यह कहा कि वह पश्चिम की बहुतायत की 'गंदगी और घुटन' से छुटकारा पाने और अर्थ खोजने यहाँ आई है तो मैंने सिर हिलाया।

'मेरे खयाल में तुम यहाँ इसलिए नहीं आई हो। कम से कम मूल वजह यह नहीं है।'

वह चौंकी।

'तो फिर किसलिए आई हूँ?'

'मैं नहीं कह सकता। मुझे ऐसा महसूस होता है कि तुम इसीलिए नहीं आई हो। हो सकता है मैं गलत होऊँ!'

उसकी नजर विचलित हो गई। वह नीचे देखने लगी।

'नहीं, मैं इसीलिए आई हूँ।' उसने दृढ़ता से कहने की कोशिश की मगर तुरंत ही सोच में पड़ गई।

हो सकता है, उसे अभी, मेरे कहने के बाद ही, अपने यहाँ आने के कारण के बारे में संदेह होना शुरू हुआ हो; और कि वह इंग्लैंड से, ऐसा ही कुछ मानकर चली हो लेकिन बाद में इस ओर वास्तविक ध्यान देना छोड़ चुकी हो! मतलब, जब तक।

'शायद तुम सही कह रहे हो', वह बोली 'कई बार मुझे पता नहीं चलता कि क्या करूँ?'

मगर इसमें आत्मस्वीकृति कितनी थी और मदद की आशा का भाव कितना था -कहना मुश्किल था।

मौत के उस भाव का, जिसके साथ मैं उस दोपहर को सोया था (और जो तब से मेरे मन को धुनता चला आ रहा था), उषा तक को पता नहीं था, और मैंने कम से कम एक बार जरूर आशा की थी कि कहीं कोई हलचल मच जाएगी और इस बारे में कुछ किया जाएगा, किसी द्वारा।

'केंद्रीय सरकार द्वारा।' बाद में मैंने इसका मजाक भी उड़ाया था। लेकिन बरसों के बँधे-बँधाए जीवन में पले आत्म-महत्व को काट नहीं पाया था। खास कर, जब मुझे यह पता नहीं था कि इसके बगैर-बस, यों ही-कैसे जिऊँगा।

कुछ यही सोचता हुआ मैं हॉकी का खेल देख रहा था। मद्रास होटल के पीछे ग्राउंड में खेल होता देख कर मैं अंदर चला आया था। कोई टिकट नहीं था। बहुत ही कम लोग (कोई दस-बारह) देख रहे थे। खेल अच्छा हो रहा था। इसमें बड़े मैचों वाली ताबड़-तोड़, जल्दी और मर-मिटने वाला तनाव नहीं था। ढलते सूरज की धूप में घास ज्यादा हरी दिखाई दे रही थी और बिखर कर बैठे थोड़े-से देखने वाले और भी ज्यादा बेतकल्लुफी और आराम से बैठे लगते थे। ऐसा महसूस हो रहा था कि वे देख भी रहे हैं और नहीं भी देख रहे हैं कि यदि यह खेल और एक सदी चलता रहेगा तो वे और एक सदी बैठे रहेंगे। अगर उठ कर चले भी जाएँगे तो बस ऐसे ही चले जाएँगे - इसलिए नहीं कि जाना जरूरी होगा, जैसा कि बैठना भी जरूरी नहीं था।

जब गोल हुआ तो किसी ने तालियाँ नहीं बजाईं। गोल करने वाला खुश था लेकिन उसने अपनी हॉकी नहीं उछाली, खुशी में कोई छलाँग भी नहीं लगाई। वे दिखाने के लिए नहीं खेल रहे थे और न देखने वाले ही देखने के लिए देख रहे थे।

'नमस्ते ,साहब!' एक लड़का मेरे पास आकर बैठ गया। मैं उसे नहीं जानता था।

'नमस्ते! कैसे हो?'

'ठीक नहीं हूँ।'

वह कोई चौदह-पंद्रह का रह होगा। अगर वह स्वस्थ और साफ होता तो ज्यादा आकर्षक लगता। वह अपने पाँवों के पंजों को ऊपर-नीचे करता जा रहा था। मोटे,धूल-सने पाँव पुरानी चप्पल में फँसे हुए थे।

'क्या बात है?'

'साहब एक रुपया दे दो!'

'क्यों?'

'साहब, घर जाना है - गुड़गाँव।'

'नहीं है - फालतू नहीं है।'

इस शैली के माँगने वालों से मैं परिचित था। दूसरे, सुबह इस क्षणिक अंधविश्वास से कि 'दान' करने से मेरा भला होगा, मैं एक भिखारी को कुछ ज्यादा पैसे दे देने की बेवकूफी कर चुका था।

'जाओ अब!'

उसके बैठे रहने से मुझे संकोच हो रहा था।

'अपनी जगह पर बैठा हूँ। आपका क्या लेता हूँ?'

इस पर मैं चौंका। मैंने उसे गौर से देखा। मुझे फिर लगा कि वह स्वस्थ और साफ होता तो ज्यादा सुंदर लगता। उसने मेरी ओर नहीं देखा - बराबर खेल में आँखें लगाए रहा।

'तुम्हारा नाम क्या है?'

'नाम जान कर क्या करेंगे?'

'फिर भी।'

उसने न मेरी ओर देखा, न कोई उत्तर दिया।

'गुड़गाँव में क्या करते हो?'

'पढ़ते थे।'

'नाम नहीं बताओगे?'

'नहीं।'

एकाएक मेरे दिमाग में एक बात आई।

'तुम्हारी यह पहली बार थी - माँगने की?'

उसका चेहरा और भी तन गया। उसने तब भी मेरी तरफ नहीं देखा।

'हाँ - क्यों?'

'कुछ नहीं, ऐसे ही।' मैंने कहा।

वह पाँव के पंजों को फिर ऊपर-नीचे करने लगा। मुझे डर लगा कि कहीं वह उठ कर चला न जाए। अब तक उसे छोटे भाई जैसा कुछ न समझना मेरे लिए असंभव था। मैंने जल्दी से दो रुपये निकाल कर उसकी तरफ बढ़ा दिए।

'यह लो! यह... वो नहीं है - बस ऐसे ही।'

'नहीं चाहिए!'

और वह उठ कर चला गया। जब तक वह चल कर गेट के बाहर ओझल नहीं हो गया तब तक मैं उसे देखता रहा।

उसके चले जाने के बाद मैं बहुत देर तक उसके बारे में सोचता रहा। खेल खतम होने के बाद तक। किसी दूसरे के बारे में पहले मैंने कभी इतना नहीं सोचा होगा।

मैं इस नतीजे पर पहुँचा।

हम हिंदुस्तानियों में जरूर कोई गहरी खामी है जो हम तीन सौ साल तक गुलाम रहे। और अब भी कुछ कर नहीं पा रहे हैं। मुझे अपनों और अंग्रेजों पर बहुत गुस्सा आया। मैं इन्हें ठीक करने की तरकीबें सोचने लगा।

दूसरे पार किनारे की सफेद रेत पुल से लेकर ऊपर दूर तक धूप में चमक रही थी। उसके पीछे लंबी हरियाली। बीच में गंगा इत्मीनान से बह रही थी। इतने इत्मीनान के साथ कि मुझे महसूस हुआ कि बैठे-बैठे हम में भी कुछ वैसा ही इत्मीनान भर गया है।

'आह!' लिंडा बोली, 'दुनिया में ऐसी जगह दूसरी नहीं हो सकती। तुम जानते हो केवल, मुझे अभी-अभी लगा मैं पिछले जन्म में हिंदू थी।'

'और तुम्हारा नाम ललिता था।' हम ललिता घाट पर बैठे थे।

'हो सकता है', उसने शायद मजाक नहीं पकड़ा। 'यहाँ मैा कुछ भी करूँ, कैसे भी रहूँ, घूमूँ-फिरूँ... वह तनाव नहीं होता जो इंग्लैंड में होता था। यहाँ खुला और हल्का महसूस करती हूँ...'

'हो सकता है, यह इसी पल के लिए हो!'

'हो सकता है! मगर केवल तुम, जरा भी स्वप्न लेने नहीं देते!'

'मैं गलत रास्ते पर जाने से हमेशा रोकता हूँ!'

हम दोनों हँस पड़े।

शायद इंग्लैंड से, अपनी असलियत से, दूर आ जाने पर ही वह 'खुला और हल्का' महसूस कर रही थी जैसा कि मैं भी दिल्ली से यहाँ बनारस में आकर एक हद तक कुछ

ऐसा ही अनुभव कर रहा था। हालाँकि मुझे मालूम था कि यह खुलापन परे हट जाने का खुलापन है; इसलिए कहीं नकली भी है।

'ललिता का मतलब क्या होता है?'

'ललिता का मतलब सुंदर, सूक्ष्म, नाजुक, अच्छी लगने वाली को मिलाजुला कर ही कुछ बनता है।'

वह खूब मुस्कराई।

हम और कुछ देर तक गंगा के पानी में आर-पार देखते रहे।

'तुम यहाँ अभी और कई दिन रहने वाले हो क्या?' लिंडा ने पूछा।

'ठीक से कह नहीं सकता। अगर कल आर्डर मिल जाए तो कल ही लौट जाऊँगा। मगर ऐसी कोई आशा या आशंका नहीं है। जिस आदमी ने आर्डर देना है - उसने बस दस्तखत-भर करने हैं-वह ईमानदार है और सख्त सुस्त है। जिस कंपनी का यह काम मैं कर रहा हूँ, वह नहीं चाहती कि मैं बिना आर्डर के लौटूँ। वह मेरा खर्च उठा रही है। मुझे बुरा नहीं लग रहा। अलबत्ता मेरा भी बहुत कुछ इसी पर निर्भर करता है। और फिर एक विदेशी लड़की का साथ है, वह भी अँग्रेज लड़की का, हमारे पुराने मालिकों की लड़की का, लौट कर क्या करूँगा!'

'तुम खिंचाई क्यों करते हो? पहले ललिता वाली बात पर की और अब...!' उसने कहा, लेकिन उसकी आवाज में बुरा मानने की ध्वनि नहीं थी।

'क्योंकि यह तुम्हें पसंद है', हँस कर मैंने कहा। मैंने सोचा था वह भी हँस देगी और बात खतम हो जाएगी। मगर वह जरा गंभीरता से बोली, 'पसंद तो शायद नहीं है। मगर मैं खिंचाई पर काफी पली हूँ। घर में भी और बाहर भी। एक प्रकार से शुरू से ही -लेकिन हैरानी की बात है कि तुम्हें पता चल गया।'

'मेरी नजर बहुत तेज है', मैंने मजाकिया लहजे में कहा। लेकिन लिंडा इस बार भी नहीं हँसी।

असल में लिंडा के साथ कुछ देर रह कर यह जान पाना मुश्किल नहीं था कि वह अपने बारे में कोई अच्छी राय नहीं रखती। अब मुझे पता था, वह अपने 'खिंचाई पर पलने' को तफसील में सुनाएगी। ऐसा सुनना किसी बीमारी की तफसील सुनने से कम नहीं

था। लेकिन इसे सुने बिना अगले कुछ दिन साथ नहीं रहा जा सकता था, इसलिए अपने ही ढंग से उसे जानना चाहा।

'लिंडा, एक बात बताओ, बिलकुल ईमानदारी से! - क्या, तुमने दरअसल, कभी किसी से प्रेम नहीं किया?'

यहाँ यह बात साफ कह दूँ कि खिंचाई पर पलने की आत्मस्वीकृति के बाद उससे कुछ भी पूछा जा सकता था। दूसरे, किसी को जानने और उसके साथ ही प्रभावित करने के लिए मैं, आम बातचीत में भी कभी-कभी बहुत अचानक, बहुत निजी मगर संगत बात पूछ लेता था।

लिंडा की आँखों में कँपकँपी आ गई और उसका लाल चेहरा और भी लाल हो गया।

'जिस ढंग से मैंने चाहा, वैसे कभी नहीं', जिस निपट यथा-तथ्य ढंग से मैंने पूछा था उसी कोरे यथा-तथ्य ढंग से उसने स्वीकारा। मुझे लगा हम किसी और की बात कर रहे थे।

यही वजह थी कि उसका वह तफसील सुनाना दूसरे रोज तक टला रहा।

वहाँ से उठ कर हम बनारस की गलियों में घूमने लगे। पतली, आड़ी, तिरछी, घुमावदार, एक-दूसरे से निकली, एक-दूसरे में घुसती, जुड़ती, मंदिरों से भरी गलियाँ लिंडा को बेहद पसंद थीं। उनमें घूमते लोग, कुत्ते, नालियाँ, उनमें खेलते बच्चे-सब। हर गली उसे अनोखी लगती, हर मंदिर किसी-न-किसी प्रकार की उपलब्धि।

'देखो!'

एकाएक वह रुक गई। जिस गली में हम थे वह सूनी और अँधेरी थी। रात भी काफी हो गई थी। एक जगह गली के फर्श के जरा नीचे से रोशनी आ रही थी। एक बहुत छोटी आलमारी जैसा मंदिर था - इस तरफ शीशा भी लगा हुआ था। उसमें कृष्ण की मूर्ति पर एक बत्ती जल रही थी। गली की सुनसान चुप्पी में हम उसे विस्मय में बहुत देर तक देखते रहे।

'यहाँ मंदिर आदि नगर से खुद-ब-खुद पैदा हुए लगते हैं, उसमें बसाए या लगाए गए नहीं।'

लिंडा के विस्मय और जिज्ञासा मुझ पर भी असर करने लगे। ऐसे विस्मय ने मुझे कई सालों के बाद पकड़ा था। इसमें - मसलन, अब गली की ईंट है तो उसे देखने से, पहले

ईंट शब्द खो जाता है, फिर ईंट का आकार भी हट जाता है। सिर्फ उसके लाल-लाल जर्रे ईंट से मुक्त होकर, एक दूसरे से भी अलग होकर नाचने लगते हैं, एक जगह पर ठहरे भी लगते हैं - जैसे तारे दूरबीन में और फिर नंगी आँख से देखने में दिखाई देते हैं। तब वे धीरे-धीरे परे हटने लगते हैं, हटते जाते हैं, हटते-हटते सामने सब-कुछ में, सारे संसार में घुल-मिल जाते हैं। और विचित्र प्रकार से अंदर मन में भी। फूलों का खिलना याद आने लगता है, सारनाथ में गौतम बुद्ध की मुस्कान याद आने लगती है और यह भी लगने लगता है कि अपने भीतर निरंतर कुछ खुलता चला जा रहा है।

कुछ इसी भाव से हम बहुत देर तक घूमते रहे। कई बार छोटी-छोटी दुकानों से चाय पी; कई बार पान खाए

मगर दूसरे रोज सुबह तक मैं इसे बनाए न रख सका।

जब हम सुबह जल्दी ही दशाश्वमेध के पास पहुँचे तो रास्ते में दोनों ओर भिखमंगों की लंबी कतारें थीं। लोग 'पुण्य कमाने' के भाव से भीख दे रहे थे और भिखमंगे पेशेवर आशीषें दे रहे थे। पुरानी आदत-वश मैंने उन पर से नजर तुरंत हटा ली। मगर देखा कि एक ओर एक जमघट के बीच शायद कोई अमरीकी उनकी फिल्म लेने की तैयारी कर रहे थे। लिंडा भी उन्हें, भिखमंगों को एक अजीब आकर्षण से देख रही थी।

मुझे संकोच होने लगा।

'चलो, जल्दी चलो, सूरज निकलने वाला है।' मैं लिंडा के घसीटता-सा नदी की ओर ले गया।

नाव में थोड़े वक्त बैठने के बाद जब पहली धूप घाटों को रँगने लगी और उसमें कबूतर और चमगूदड़ियाँ नए पक्षी दिखने लगे तो इनको और लोगों को नहाते देखकर लिंडा विभोर होने लगी। मुझे इस सबमें कुछ खास दिखाई नहीं दिया। बल्कि लिंडा का विभोर होना अधकचरा और खराब लगा। जब वह उस 'दृश्य' के गुण गाने लगी तो मैंने मन में कहा कि वह गधी है।

कोई दस बजे लौटकर हमने पूड़ियाँ खाईं, चाय पी, पान खाए और फिर गलियों-घाटों पर घूमने लगे। मगर कल वाली बात नहीं आ सकी। हमने रिक्शा किया और सारनाथ चले गए जो हम दोनों ने अलग से देखा हुआ था।

वहाँ कई घंटे रहने के बाद हम लौटे तो काफी थग गए थे। थकने से भी ज्यादा एक दूसरे से ऊब गए थे। रिक्शा में हमने कोई बात नहीं की। वह दूसरी ओर खेतों आदि में

देखती जा रही थी। मैं आगे रास्ते में देख लेता था या फिर नजर रिक्शावाले की सिकुड़ती पिंडलियों पर टिक जाती थी।

एक जगह रिक्शे की चेन उतर गई तो रिक्शेवाला उसे रोक कर चेन ठीक से बैठाने लगा। रिक्शा जब फिर बढ़ने लगा तो हम फिर अपनी-अपनी जगहों पर देखने लगे। मुझे महसूस हुआ कुछ खातमे पर है।

पार पहुँच कर हम रेत में पैर धँसाते थोड़ी दूर निकल आए और एक साफ टुकड़ा देखकर धम से बैठ गए, फिर लेट गए। वह उधर मुँह करके, मैं इधर।

लिंडा!' कुछ देर बाद मैंने कुहनियों के बल उठ कर कहा।

'हाँ!'

'तुम्हारा मन इंग्लैंड लौटने को नहीं करता?'

'कभी-कभी बहुत करता है। मगर मैं लौटना नहीं चाहती।'

'क्यों?'

वह भी कोहनियों के बल हो गई।

'लौटने के नाम से ही मुझे डर लगता है...' वह आगे नहीं बोली, शायद बोल नहीं पाई।

उसकी गोरी टाँगे अब शाम के बहुत कम बचे प्रकाश में खास आकर्षक लग रही थीं। उन्हीं के कारण मुझे ज्यादा सहानुभूति होने लगी, जिसकी 'जर्ब' में मैं खुद भी शामिल था।

'डरने की क्या बात है, लिंडा!'

उसकी टाँगों पर पहले मैंने आहिस्ता से हाथ फेरा, तब उन्हें चूसने लगा। 'आह!' कह कर लिंडा लेट गई।

जब रस तेजी से बढ़ने लगा तब मैंने वह बात कही जिसे ऐसे ही मौके पर कहने के बारे में कई बार सोच चुका था और जिसे कहने की अब इच्छा नहीं थी। मगर उसे न कहने पर, मुझे पता था, भीतर रह जाएगी और तंग करती रहेगी।

'मैं इंग्लैंड की ले रहा हूँ', मैंने कहा।

'इंग्लैंड की तो पहले ही बजी हुई है', लिंडा बोली।

हम दोनों को एक साथ हँसी आ गई। अलग होकर हम बुरी तरह से हँसने लगे और बहुत देर तक हँसते रहे।

बुर्निग्ड घाट से उठती आग की लपटें अँधेरे को चाट रही थीं; गंगा के पानी में उसकी मोटी चमकती लकीर बनकर हम तक पहुँच-सी रही थी। हम उठे तो काफी ठंड थी। लिंडा ने कहा कि यहाँ की और इंग्लैंड की ठंड में बहुत फर्क है। मैंने कहा, 'अच्छा?'